Research Inspiration
An International Multidisciplinary e-Journal
(Peer - reviewed, Open Accessed & Indexed)
Web: www.researchinspiration.com; Email: publish1257@gmail.com
Vol.4, Issue-II, March 2019
ISSN: 2455-443X
Impact Factor: 6.331 (SJIF)
e-ISJN: A4372-3069

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय रियासतें: एक समीक्षात्मक विश्लेषण

डॉ. विश्वनाथ वर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर– प्राचीन इतिहास विभाग,
हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी

संक्षिप्त रूप

अंग्रेजों ने जिस तरह भारत का अतिक्रमण किया और औपनिवेशिक सत्ता स्थापित करने के लिए जो नीतियाँ अपनाई, उनके चलते भारतीय उपमहाद्वीप के 25वें हिस्से पर भारतीय राजाओं–महाराजाओं का ही शासन कायम रहा। अधिकतर देशी रियासतों में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था। राजा–महाराजा अपनी विलासिता के लिए राजकोष का मनमाना इस्तेमाल करते थे और अनेक रियासतों में वैभव और विलासिता के नाम पर पैसा पानी की तरह बहाया जा रहा था। किसान दमन के शिकार थे, ब्रिटिश शासन की तुलना में मालगुजारी और कर बहुत अधिक और असहनीय थे। अनेक रियासतों में भू–दास प्रथा, गुलामी और बेगार की प्रथा प्रचलित थी। शिक्षा का कोई खास प्रसार न था; स्वास्थ्य और अन्य सामाजिक सेवाएँ एकदम पिछड़ेपन की हालत में थीं, और प्रेस की स्वतंत्रता, कानून–सम्मत शासन और दूसरे नागरिक अधिकारों का कोई मान नहीं था। इस तरह अधिकांश रियासतें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी हुई थीं। इस गरीबी और पिछड़ेपन के लिए केवल रियासतें ही जिम्मेदार नहीं थीं। इन रियासतों की इस दुर्दशा के लिए मूलतः अंग्रेजी हुकूमत जिम्मेदार थी। पहले के पूरे इतिहास में आंतरिक विद्रोह या बाहरी आक्रमण की चुनौतियाँ इन भ्रष्ट और पतित देसी राजा–महाराजाओं की मनमानी पर कुछ हद तक नियंत्रण रखती थीं। परंतु ब्रिटिश शासन ने राजाओं को इन दोनों खतरों से सुरक्षित बना दिया और अब वे खुलकर अपने शासन का दुरूपयोग करने लगे। इस शोध पत्र के माध्यम से उस समय के रियासतो और अग्रेजो द्वारा किये जाने वाले अत्याचारो के कारणों का विश्लेषण करना है।

शब्द कुँजीः अतिक्रमण, औपनिवेशिक सत्ता, देशी रियासतें, ब्रिटिश शासन।

अंग्रेजों ने जिस तरह भारत का अतिक्रमण किया और औपनिवेशिक सत्ता स्थापित करने के लिए जो नीतियाँ अपनाई, उनके चलते भारतीय उपमहाद्वीप के 25वें हिस्से पर भारतीय राजाओं–महाराजाओं का ही शासन कायम रहा। इन रियासतों की संख्या 565 थी जो छोटी–बड़ी हर तरह की थीं, जैसे हैदराबाद, मैसूर और कश्मीर जैसी रियासतों का आकार तो कई यूरोपीय देशों के बराबर था, और कई रियासतें ऐसी थीं जिनकी आबादी मात्र कुछ हजार ही थी। भारतीय रियासतों के अस्तित्व में आने के मुख्य कारण वही थे जिनके कारण ईस्ट इंडिया कंपनी शक्तिशाली बनी। बहुत–सी भारतीय रियासतें, स्वायत्तता प्राप्त अथवा अर्धस्वायत्तता प्राप्त इकाइयों के रूप में उत्तर मुगलकाल में बनीं। 1857 के पहले अंग्रेज भारतीय रियासतों को हड़पने का कोई अवसर नहीं चूकते थे। लेकिन 1857 के विद्रोह के बाद उन्होंने भारतीय रियासतों के प्रति अपनी नीति को बदल दिया। विद्रोह के दौरान अनेक देसी रियासतें न केवल अंग्रेजों की वफादार बनी रहीं, बल्कि विद्रोह को कुचलने में उनकी सक्रिय रूप से सहायता

भी की थी। वायसराय केनिंग ने कहा भी था कि इन राजाओं ने तूफान में 'तरंगरोधकों' का काम किया था। वास्तव में विद्रोह के अनुभव से ब्रिटिश अधिकारियों को यह विश्वास हो गया था कि जनता के विरोध या विद्रोह की स्थिति में ये रियासतें उनका कारगर सहयोगी हो सकती हैं। इसलिए साम्राज्य के आधार के रूप में उनको बनाए रखना तब से ब्रिटिश नीति का एक सिद्धांत रहा है। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने रियासतों के विलय की नीति को त्याग दिया था, लेकिन इस विलय के न होने के अधिकार के लिए रियासतों को सर्वश्रेष्ठ शक्ति और असंदिग्ध शासक के रूप में अंग्रेजी सत्ता की 'सर्वोच्चता' को स्वीकार करना पड़ा था। अंग्रेजी हुकूमत ने इन रियासतों के राजाओं को किसी भी अंदरूनी या बाहरी खतरे में उनका साथ देने की तथा उनकी सुरक्षा की गारंटी दी थी।

अधिकतर देसी रियासतों में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था। राजा–महाराजा अपनी विलासिता के लिए राजकोष का मनमाना इस्तेमाल करते थे और अनेक रियासतों में वैभव और विलासिता के नाम पर पैसा पानी की तरह बहाया जा रहा था। किसान दमन के शिकार थे, ब्रिटिश शासन की तुलना में मालगुजारी और कर बहुत अधिक और असहनीय थे। अनेक रियासतों में भू–दास प्रथा, गुलामी और बेगार की प्रथा प्रचलित थी। शिक्षा का कोई खास प्रसार न था; स्वास्थ्य और अन्य सामाजिक सेवाएँ एकदम पिछड़ेपन की हालत में थीं, और प्रेस की स्वतंत्रता, कानून–सम्मत शासन और दूसरे नागरिक अधिकारों का कोई मान नहीं था। इस तरह अधिकांश रियासतें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी हुई थीं। इस गरीबी और पिछड़ेपन के लिए केवल रियासतें ही जिम्मेदार नहीं थीं। इन रियासतों की इस दुर्दशा के लिए मूलतः अंग्रेजी हुकूमत जिम्मेदार थी। पहले के पूरे इतिहास में आंतरिक विद्रोह या बाहरी आक्रमण की चुनौतियाँ इन भ्रष्ट और पतित देसी राजा–महाराजाओं की मनमानी पर कुछ हद तक नियंत्रण रखती थीं। परंतु ब्रिटिश शासन ने राजाओं को इन दोनों खतरों से सुरक्षित बना दिया और अब वे खुलकर अपने शासन का दुरूपयोग करने लगे।[1]

ब्रिटिश भारत की राजनीति में कभी–कभी रियासतों के राजा भी रूचि लेते थे, जैसे अलवर और भरतपुर के राजा बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में हिंदू राष्ट्रवाद के प्रचंड समर्थक थे। अलवर का राजा जयसिंह इतना बड़ा देशभक्त था कि

वह यूरोप वालों से दस्ताने पहने बिना हाथ तक नहीं मिलाता था। भरतपुर में वित्तीय अनियमितताओं के कथित आरोपों के कारण जब राजा को हटा दिया गया था, तो आर्यसमाज, कांग्रेस और जाट महासभा के गठजोड़ ने इस क्षेत्र को पूरे राजस्थान में राष्ट्रवाद का एक प्रमुख केंद्र बना दिया था।[2] कुछ विवेकशील शासक भी थे जो कुछ प्रशासनिक सुधार लागू करने और प्रशासन में जनता की भागीदारी का खयाल रखते थे। लेकिन अधिकांश राजे–महराजे अंग्रेजी राज के वफादार थे और ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा डालने तथा उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन का मुकाबला करने के लिए इन राजाओं का इस्तेमाल करती थी।

बीसवीं सदी के पहले दशक में जब गरमपंथ और हिंसा का प्रभाव बढ़ा और फिर दूसरे दशक में जब प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ हुआ तो साम्राज्य के लिए राजाओं, महाराजाओं ने अपनी उपयोगिता साबित करते हुए युद्धकोष में खुलकर दान दिए, मूल्यवान सैनिक सेवाएँ प्रदान की और अपनी रियासतों में सैनिकों की भर्ती को प्रोत्साहित किया।

[1] विपिन चन्द्र, 2008, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ 315।
[2] मायाराम, 1997, रिसिस्टिंग रिगमे : मिथ, मेमोरी एंड दि शेपिंग ऑफ ए मुस्लिम आइडेंटिटी, पृष्ठ 53–97।

इसके बाद जब असहयोग आंदोलन ने इस उपमहाद्वीप को झकझोरा, तो इन राजाओं ने अपने क्षेत्रों में इस आंदोलन की लहर को रोकने के लिए सरकार की मूल्यवान सेवा की। यही नहीं, जब प्रिंस ऑफ वेल्स के दौरे का कांग्रेस ने बहिष्कार किया, तो राजाओं के जोश और शानदार स्वागत के कारण ही वह दौरा थोड़ा–बहुत सम्मानित बना।

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत भारतीय रियासतों ने अपनी सेवाओं के बदले अधिक संवैधानिक स्वतंत्रता, ब्रिटिश भारत में उठती राजनीति की लहरों से सुरक्षा की अधिक गारंटी और साम्राज्य की सलाह–मशविरा की प्रक्रिया में अधिक भागीदारी की माँग की।[3] इसलिए फरवरी 1921 में एक 120 सदस्यों वाले 'नरेंद्र मंडल' (चैंबर ऑफ प्रिंसेज) की व्यवस्था की गई ताकि राजे–महाराजे एक साथ मिल–बैठ सकें और ब्रिटिश मार्गदर्शन में अपने साझे हित के विषयों पर विचार–विमर्श कर सकें। इससे भारतीय रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य के अनुग्रहीत पुत्र बन गईं और वास्तव में उन्हें सामूहिक रूप से साम्राज्य का एक स्वतंत्र अंग स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि इस चैंबर ने राजाओं के भौतिक और राजनीतिक, दोनों तरह के अलगाव को तोड़ा[4] किंतु राजनीतिक परंपराओं और सर्वोच्चता की भावना के लगातार बढ़ते प्रभाव के कारण नरेंद्र लोग अब चिंतित भी होने लगे थे।

देशी रियासतें ब्रिटिश भारत से कभी पूरी तरह कटी हुई नहीं रहीं, न ही उनकी सीमाएँ कभी अलंघ्य रहीं, क्योंकि उनमें पास के प्रांतों से राष्ट्रवादी राजनीति और सांप्रदायिक तनाव, दोनों का लगातार प्रवेश होता रहता था। ब्रिटिश इंडिया में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रसार से देसी रियासतों में भी लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों तथा उत्तरदायी शासन–प्रणाली के प्रति राजनीतिक चेतना का प्रसार होने लगा था। बीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशक के बीच जो राष्ट्रवादी क्रांतिकारी ब्रिटिश इंडिया से भागकर इन रियासतों में आ गए थे, उन्होंने भी जनता के बीच राजनीतिक चेतना जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920 में छिड़े असहयोग आंदोलन ने इन रियासतों को सबसे अधिक प्रभावित किया और गांधीजी से प्रेरणा प्राप्त की, जैसे 1921 के दौरान जागीरदारों के दमन और भूमिकरों के प्रतिरोध में मेवाड़ का बिजौलिया आंदोलन या मोतीलाल के नेतृत्व में सिरोही में भीलों का आंदोलन। मोतीलाल को तो स्थानीय गांधी भी कहा जाने लगा था, जबकि स्वयं गांधीजी ने इस आंदोलन से अपना संबंध तोड़ लिया था।[5]

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आते–आते प्रायः सभी रियासतों में ''प्रजामंडलों'' के रूप में जन–आंदोलन उभरने लगे थे और वहाँ की जनता संवैधानिक परिवर्तनों, जनतांत्रिक अधिकारों और लोकप्रिय सरकारों की माँग को लेकर आंदोलन करने लगी थी। विभिन्न रियासतों, जैसे मैसूर, हैदराबाद उड़ीसा, त्रावनकोर, इंदौर, गयानगर तथा काठियावाड़ और दकन की रियासतों में राजनीतिक गतिविधियों के तालमेल के लिए 'स्टेट पीपुल्स कॉन्फरेंस' का गठन हुआ। बाद में राष्ट्रवादी आंदोलन के समन्वय के लिए ये मंडल 'आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस' (ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांग्रेस) नाम के एक राष्ट्रीय संगठन से संबद्ध हो गए, जिसकी स्थापना 1927 में हुई और जिसका मुख्यालय बंबई में था। इस संगठन ने लोकतांत्रिक अधिकारों और संवैधानिक परिवर्तनों की माँग उठाई,

[3] इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 32–35।
[4] रैमजक 1978, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि ट्वीलाइट ऑफ एंपायर : डिस्साल्यूशन ऑफ ए पैटरॉन–क्लाइंट सिस्टम, 1914–1939, पृष्ठ 77–93।
[5] डी. वाइडल 1997, वाइलेंस एंड ट्रूथ : ए राजस्थानी किंगडम कन्फ्रॉन्ट्स कॉलोनियल अथॉरिटी, पृष्ठ 113–56।

जिनका उत्तर अधिकांश रियासतों ने तीखी प्रतिशोध भावना और भारी दमन से दिया। लेकिन कुछ रियासतें अपवाद भी थीं, जैसे बडौदा, मैसूर, त्रावनकोर और कोचीन जिन्होंने, सीमित दायरों में ही सही, कुछ संवैधानिक परिवर्तन करने शुरू कर दिए थे।

रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति

यद्यपि मैसूर या त्रावनकोर जैसी कुछ रियासतों में कांग्रेस की राजनीति काफी पैठ बना चुकी थी, लेकिन आरंभ में 1920 के दशक तक कांग्रेस रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करने से कतराती रही और प्रजा पर राजाओं के परंपरागत अधिकारों को मान्यता देती रही। 1920 में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार भारतीय रियासतों के प्रति अपनी नीति की घोषणा की जब अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर रियासतों के राजाओं से तुरंत उत्तरदायी सरकार के गठन की माँग की गई और रियासतों की जनता को कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति दे दी गई। इसके साथ ही कांग्रेस ने यह हिदायत भी दी कि ऐसे लोग रियासतों में कांग्रेस के नाम पर कोई राजनीतिक गतिविधि शुरू नहीं करेंगे। यदि वे चाहें तो व्यक्तिगत रूप से या स्थानीय संगठनों के सदस्य के रूप में ऐसा कर सकते थे।

कुछ इतिहासकारों ने कांग्रेस की इस अहस्तक्षेपवादी नीति का समर्थन करते हुए इसको राष्ट्रीय आंदोलन के लिए फायदेमंद बताया है। तर्क दिया है कि ब्रिटिश इंडिया और देसी रियासतों के राजनीतिक हालात काफी भिन्न थे, एक रियासत की स्थिति दूसरी रियासत की स्थिति से भी भिन्न थी; नागरिक स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं थी; संगठन बनाने का अधिकार नहीं था; जनता भयंकर गरीबी और पिछड़ेपन की शिकार थी। सबसे बड़ी बात यह कि कानूनी तौर पर ये रियासतें स्वाधीन रियासतें थीं।.....इसका एक उद्देश्य यह भी था कि रियासत की जनता खुद संघर्ष के लिए संगठित हो।''[6] सही तो यह है कि कांग्रेस दिखावे के रूप में राजाओं की प्रभुसत्ता–संबंधी परंपरागत अधिकारों का सम्मान करते हुए चतुराई के साथ रियासतों के मामले में अहस्तक्षेप की आधिकारिक नीति अपना रही थी।

कांग्रेस ने 1928 में एक प्रस्ताव के माध्यम से राजाओं से प्रातिनिधिक संस्थाओं पर आधारित 'उत्तरदायी शासन लागू करने का'' आग्रह किया तथा ''पूर्ण उत्तरदायी शासन' की प्राप्ति के लिए प्रयासरत भारतीय रियासतों की जनता के 'वैध और शांतिपूर्ण संघर्ष' के प्रति 'सहानुभूति' और 'समर्थन' व्यक्त किया। जवाहरलाल नेहरू ने 1929 में लाहौर अधिवेशन में भी घोषणा की कि ''देशी रियासतें शेष भारत से अलग नहीं रह सकतीं।....इन रियासतों की तकदीर का फैसला सिर्फ वहाँ की जनता ही कर सकती है।'' बाद के वर्षों में भी कांग्रेस ने रियासतों के राजाओं से अपनी रियासतों में जनता के मौलिक अधिकारों के बहाली की माँग की। लेकिन ऐसी मौखिक सहानुभूति का रियासतों की जनता के आंदोलनों और कांग्रेस की गुप्त शाखाओं के लिए कोई विशेष अर्थ नहीं था, क्योंकि जब सविनय अवज्ञा आंदोलन से प्रेरित होकर अनेक रियासतों, विशेषकर राजकोट, जयपुर, कश्मीर, हैदराबाद और त्रावनकोर में जन–संघर्ष चलाए गए, तो भावनगर, जूनागढ़ या काठियावाड़ जैसे थोड़े से अपवादों को छोड़कर अंग्रेजी राज के समर्थक राजे–महाराजे अपने–अपने इलाकों में कांग्रेसी गतिविधियों के दमन के लिए पहले जितने ही

[6] बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 289।

भरोसेमंद साबित हुए।[7] इतना ही नहीं, अनेक राजाओं ने सांप्रदायिकता का भी सहारा लिया, जैसे हैदराबाद के निजाम ने जन–आंदोलन को 'मुस्लिम–विरोधी' और कश्मीर के महाराजा ने 'हिंदू विरोधी' घोषित किया, जबकि त्रावनकोर के महाराजा का दावा था कि जन–आंदोलन के पीछे ईसाइयों का हाथ है।[8]

इन सभी वर्षों के दौरान ब्रिटिश सरकार अपने उन अधीनस्थ सहयोगियों (देसी राजाओं–महाराजाओं) का उपयोग प्रांतों में राष्ट्रवाद की नई शक्तियों के विरुद्ध प्रभावी हथियार के रूप में करती रही। लेकिन जब इन राजा–महाराजाओं को राष्ट्रवादी नेताओं से अपनी शासन–संबंधी आंतरिक स्वतंत्रता को चुनौती मिलने लगी तो वे अधिकाधिक बौखलाहट के शिकार होने लगे।[9] इस बौखलाहट का एक कारण यह भी था कि अंग्रेजी राज के अधिकारी लगातार ''सर्वोच्चता'' की शक्ति–सीमाओं को फैलाते रहते थे। 1928 में सर हारकार्ट बटलर की अध्यक्षता में गठित इंडियन स्टेट्स कमेटी ने अपनी रिपोर्ट (1929) में घेरे में बंद इन राजाओं को वादे के रूप में केवल यह रियायत दी कि उनकी सहमति के बिना ब्रिटिश भारत में लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित किसी सरकार को सर्वोच्चता का हस्तांतरण नहीं किया जाएगा, लेकिन साथ ही साथ उसने असीमित शक्तियों वाली सर्वोच्च सत्ता की ''सर्वोच्चता'' पर फिर से बल दिया। इससे सर्वोच्चता का सिद्धांत अभी तक स्वीकृत किसी भी सीमा से आगे तक फैल गया। अब दीवारों से पीठ लग जाने और दो पाटों के बीच में दब जाने के बाद राजाओं ने राजनीति में रुचि लेनी शुरू कर दी और कुछ नरमपंथी राजनीतिज्ञों से मेलजोल बढ़ाने लगे।

चौथे दशक के मध्य में परस्पर जुड़े हुए दो घटनाक्रमों ने रियासतों के तत्कालीन हालात को काफी प्रभावित किया। पहली घटना थी भारत सरकार अधिनियम 1935 द्वारा सांविधानिक रूप से देशी रियासतों को शेष भारत से जोड़ने की योजना, जिसका सुझाव सबसे पहले 1928 में नेहरू रिपोर्ट ने दिया था। देशी रियासतों को मिलाकर भारत को एक संघीय स्वरूप प्रदान किया जाना था। संघ का विचार रियासतों को अपनी मौजूदा स्थिति से बाहर निकलने का एक आदर्श रास्ता नजर आया। एक स्वतंत्र अखिल भारतीय संघ में शामिल होकर वे ''सर्वोच्च्ता की जकड़'' से निकल सकते थे और साथ ही अपनी आंतरिक स्वतंत्रता को भी सुरक्षित रख सकते थे। लेकिन इस विषय पर भी सभी राजा एकमत नहीं थे और महाराजा पटियाला इस गुट के नेता थे। अंततः 11 मार्च 1932 को एक आपसी समझौता किया गया, जिसे ''दिल्ली समझौता'' के नाम से जाना जाता है, और 1 अप्रैल 1932 को चैंबर ऑफ प्रिंसेज ने इस समझौते का अनुमोदन कर दिया। अब संघ की माँग को भारतीय राजाओं की एक संवैधानिक माँग के रूप में पेश किया गया। लेकिन इस माँग के साथ कुछ ऐसे सुरक्षा उपाय भी जुड़े हुए थे जिन्हें निश्चित था कि अंग्रेज और राष्ट्रवादी दोनों अस्वीकार कर देते, जैसे वे संघीय विधायिका की ऊपरी सदन में चैंबर ऑफ प्रिंसेज के सभी सदस्यों के लिए अलग–अलग सीटें, संधियों से प्राप्त अधिकारों की रक्षा, और सबसे बढ़कर संघ से अलग होने का अधिकार।[10] अंग्रेजों को संघ का विचार पसंद था क्योंकि ये राजा प्रांतों के राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों की काट

[7] रैमजक 1978, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि ट्वीलाइट ऑफ एंपायर : डिस्साल्यूशन ऑफ ए पैटरॉन–क्लाइंट सिस्टम, 1914–1939, पृष्ठ 181 में उद्धृत।

[8] विपिन चन्द्र, 2008, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ 315–16।

[9] मेनर 1978, दि डेमाइज ऑफ दि प्रिंसली ऑर्डर : ए रिएसेस्मेंट, इन पीपुल, प्रिंसेज एंड पैरामाउंट पॉवरः सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन दि इंडियन प्रिंसली स्टेट्स, संपा. आर. जेफ्री, 306–28, पृष्ठ 310–16।

[10] इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 70 में उद्धृत।

कर रकते थे, लेकिन उनके संघ का विचार राजाओं के संघ के विचार से भिन्न था। अंततः जब 2 अगस्त 1935 को भारत सरकार अधिनियम 1935 को शाही स्वीकृति मिली, तब उसमें शामिल संघ की योजना राजाओं के बहुमत को संतुष्ट नहीं कर सकी। रियासतों से प्रतिनिधि चुनने का अधिकार राजाओं–महाराजाओं को दिया गया था और उनकी संख्या संघीय विधानमंडल की कुल संख्या की एक तिहाई थी। कांग्रेस, राज्य जन–कॉन्फरेंस तथा अन्य जन–संगठनों ने माँग की कि रियासतों की जनता खुद अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करे क्योंकि राजाओं के एजेंट जनता के प्रतिनिधि नहीं हो सकते हैं। अंततः यह योजना लागू नहीं हो सकी।

दूसरी घटना थी 1937 में ब्रिटिश भारत के विभिन्न प्रांतों के चुनावों में कांग्रेस का नाटकीय राजनीतिक उत्थान, जिससे देशी रियासतों के राजा–महाराजा बौखला उठे। कांग्रेस के सत्ता में आने से रियासतों की जनता में नई चेतना और एक नया आत्मविश्वास पैदा हुआ, नई उम्मीदें बँधीं और राजनीतिक सरगर्मियाँ तेज हो गईं। इस बदलाव को रियासतों के राजाओं ने भी महसूस किया। अब उत्तरदायी सरकार और नए सुधारों को लेकर कई रियासतों में आंदोलन उठ खड़े हुए। ऐसी रियासतों में जहाँ कोई जन–संगठन नहीं बना था, वहाँ बड़ी संख्या में ''प्रजामंडलों'' का गठन हुआ। कांग्रेस अब केवल विपक्ष की भूमिका निभाने वाली पार्टी नहीं रह गई थी; अब वह सत्ता में थी और कांग्रेसी सरकारें अपने प्रांतों के आसपास की रियासतों के राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित कर सकती थीं, लेकिन अभी तक कांग्रेस रियासतों में अहस्तक्षेप की नीति पर कायम थी। जयपुर, कश्मीर, राजकोट, पटियाला, हैदराबाद, मैसूर, त्रावनकोर और उड़ीसा जैसी रियासतों में स्थानीय प्रजामंडलों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन खड़े किए, ब्रिटिश रेजीडेंट के सक्रिय संरक्षण में राजाओं ने अनियंत्रित दमन का सहारा लिया। उड़ीसा कांग्रेस अहस्तक्षेप की पुरानी नीति पर चलते हुए इसे चुपचाप देखती रही।[11]

कांग्रेस की हस्तक्षेपवादी नीति का आरंभ

1930 के दशक के उत्तरार्ध में नेहरू और बोस जैसे वामपंथी कांग्रेसी नेता रियासतों को ब्रिटिश भारत के राजनीतिक घटनाक्रमों से जोड़ने के लिए उनमें अधिक से अधिक हस्तक्षेप की वांछनीयता पर अधिक जोर देने लगे।[12] कांग्रेस कार्यसमिति ने भी अक्टूबर 1937 में रियासतों के जन–आंदोलन को नैतिक और भौतिक समर्थन देने का निर्णय किया। इसके बाद 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा सत्र में रियासतों के मामलों में अहस्तक्षेप की परंपरागत कांग्रेसी नीति का परित्याग कर दिया गया और रियासतों के जन–आंदोलनों को समर्थन देने–संबंधी एक प्रस्ताव पारित किया गया। यद्यपि उनको कोई सांगठनिक सहायता नहीं दी जानी थी, लेकिन कांग्रेस कार्यकारी समिति की एक विशेष उपसमिति के नेतृत्व में नेतागण व्यक्तिगत रूप से उनमें भाग ले सकते थे। दरअसल कांग्रेस ने देख लिया था कि जनता राजनीतिक रूप से जागरूक हो चुकी है और संघर्ष पर उतारू है। कांग्रेस का सोशलिस्ट और वामपंथी गुट तो बहुत पहले से ही इसके लिए कांग्रेस नेतृत्व पर दबाव डाल रहा था। कांग्रेस की नीति–परिवर्तन के संबंध में गांधी ने एक भेंटवार्ता में 25 जनवरी 1938 को टाइम्स ऑफ इंडिया को स्पष्टीकरण दिया, ''मेरी राय में रियासतों में हस्तक्षेप न करने की नीति सही थी, क्योंकि तब जनता जागरूक नहीं हुई थी। अब, जबकि जनता

[11] बिस्वमॉय पति, 1993, रिसिस्टिंग डॉमिनेशन : पीजेंट, ट्राइबल्स एंड दि नेशनल मूवमेंट इन ओडिसा, 1920–50, पृष्ठ 88–108।
[12] रैमजक 1978, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि ट्वीलाइट ऑफ एंपायरः डिस्साल्यूशन ऑफ ए पैटरॉन–क्लाइंट सिस्टम।

राजनीतिक रूप से जागरूक हो चुकी है और संघर्ष के लिए तैयार है, पुरानी नीति पर चलना कायरता होगी। वैधानिक, संवैधानिक तथा अन्य कृत्रिम सीमाएँ (जो रियासतों और ब्रिटिश भारत के बीच थीं) तो उसी क्षण टूट गईं, जिस क्षण जनता जागरूक हुई।'' कांग्रेस ने 1938 में जब अपने स्वाधीनता के लक्ष्य को परिभाषित किया, तो उसने रियासतों की स्वाधीनता को भी इसमें शामिल कर लिया। फरवरी 1939 में नेहरू ने ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के राजनीतिक संघर्षों के साझे राष्ट्रीय लक्ष्यों को सामने रखने के लिए ''ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस'' के लुधियाना अधिवेशन की अध्यक्षता की और त्रिपुरी कांग्रेस ने रियासतों की जनता के आंदोलनों में और भी सक्रिय रूप से भाग लेने की संयुक्त कार्रवाई की योजना का अनुमोदन कर दिया। इस प्रकार ब्रिटिश इंडिया और देशी रियासतों में छिड़े आंदोलन अब खुले रूप में एक–दूसरे से जुड़ गए, जिससे पूरे भारत में एकता की एक नई चेतना फैल गई।

1938 के अंत और 1939 के आरंभ में अगले कुछ महीनों में, कांग्रेस के सक्रिय संरक्षण के साथ, स्थानीय प्रमंडलों और ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस के नेतृत्व में प्रचंडतम जन–आंदोलनों ने भारतीय रियासतों, विशेषकर मैसूर, जयपुर, राजकोट, त्रावनकोर, कश्मीर और हैदराबाद को हिलाकर रख दिया। मैसूर और राजकोट जैसे कुछ छोटे और मझोले आकार की रियासतें इस तरह के उभार के लिए तैयार नहीं थीं, इसलिए उन्होंने झुककर कांग्रेस के प्रति एक अधिक समझौतावादी रूख अपनाया और कुछ सांकेतिक रियायतें दे दीं, लेकिन बड़ी रियासतों ने भयानक हठ के साथ दबाव का जमकर विरोध किया और देर से सही, उनको अंग्रेज अधिकारियों की सहायता भी मिली। राजकोट में स्वयं गांधी ने एक अग्रणी भूमिका निभाई। जब शांतिपूर्ण प्रदर्शन अनेक हिंसक कार्यों में और आगे चलकर दक्षिण में सांप्रदायिक दंगों में परिवर्तित हो गए, तो विवश होकर गांधीजी ने अप्रैल 1939 में यह आंदोलन वापस ले लिया। शरद ऋतु के आगमन तक स्थिति फिर सामान्य हो गई। इस तरह 1939 में अधिकांश राजाओं के मतानुसार कांग्रेस अपना असली रंग दिखा चुकी थी। फलतः जनवरी 1939 में जब लिनलिथगो ने एक संशोधित प्रस्ताव में रियासतों को कुछ छोटी–मोटी रियायतें देने की कोशिश की तो प्रस्तावित संघ के प्रति रियासतों का विरोध और कड़ा हो गया और जून में चैंबर ऑफ प्रिंसेज की बंबई सभा ने उसे एक सिरे से अस्वीकार कर दिया।

अगस्त में यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने से राजनीतिक माहौल में जबरदस्त बदलाव आया। भारत सचिव जेटलैंड ने संघ के प्रस्ताव को तुरंत 'ठंडे बस्ते' में डाल दिया।[13] नवंबर 1939 में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। अंग्रेजी हुकूमत ने ''भारतीय प्रतिरक्षा कानून'' (डिफेंस ऑफ इंडिया रूल) पारित किया जिससे रियासतों में राजनीतिक गतिवधियाँ थम–सी गईं। किंतु 1942 में जब ''भारत छोड़ो'' आंदोलन शुरू हुआ तो ब्रिटिश भारत के साथ–साथ रियासतों में भी संघर्ष का शंखनाद हुआ और रियासतों की जनता भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष में शामिल हो गई। अब रियासतों में भी ''भारत छोड़ो'' के नारे गूँजने लगे और रियासतों को भारत का अभिन्न अंग मानने की माँग की जाने लगी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 1945–47 में हैदराबाद, त्रावनकोर, कश्मीर और पटियाला जैसी अनेक रियासतों में अनेकों जन–आंदोलन हुए, जिसमें लोगों ने अधिक राजनीतिक अधिकार और संविधान सभा में पर्याप्त

[13] इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 181 और आगे।

प्रतिनिधित्व देने की माँग की। 1945 में उदयपुर में तथा 1947 में ग्वालियर में अखिल भारतीय राज्य जन–सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिनकी अध्यक्षता पं. जवाहरलाल नेहरू ने की। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि जो रियासतें संविधान सभा में सम्मिलित होने से इन्कार करेंगी, उनसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया जाएगा।

सत्ता–हस्तांतरण और रियासतों की समस्या

सत्ता–हस्तांतरण के समय रियासतों की समस्या बड़ी जटिल हो गई, खासकर इसलिए कि ब्रिटिश सर्वोच्चता की समाप्ति के बाद 565 रियासतों का भविष्य क्या होगा? औपचारिक संकल्पों और औपचारिक संधियों के द्वारा ब्रिटिश सम्राट ने रियासतों द्वारा कुछ राजनीतिक अधिकारों के समर्पण के बाद उनकी रक्षा का वचन दिया था। बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में ब्रिटेन की मजदूर दल की सरकार सत्ता–हस्तांतरण के बाद रियासतों के इस दायित्व से मुक्त होना चाहती थी। 12 मई 1946 को कैबिनेट मिशन ने घोषणा की कि सत्ता के हस्तांतरण के साथ ही 'सर्वोच्चता' समाप्त हो जाएगी और रियासतों को उनके द्वारा छोड़े गए अधिकार वापस मिल जाएंगे। वे या तो ब्रिटिश भारत के उत्तराधिकारी राज्य/राज्यों के साथ या संघीय संबंध बनाने के लिए स्वतंत्र होंगे या फिर अपने हितकारी किसी और राजनीतिक व्यवस्था में बँधने के लिए स्वतंत्र होंगे। इस तरह इस घोषणा ने अनजाने में ही राजाओं के मन में यह बात भर दी कि उन्हें स्वतंत्र रहने का विकल्प प्राप्त होगा। इस गलती के ठीक करने के लिए माउंटबेटन की ''बाल्कन योजना'' में भी कुछ नहीं किया गया और केवल यह कहा गया कि रियासतों को प्रांतों के इस या उस महासंघ में शामिल होने की स्वतंत्रता होनी चाहिए या फिर वे स्वतंत्र रह सकते हैं। 3 जून की घोषणा में भी रियासतों से संबंधित नीति अपरिवर्तित रही। फिर माउंटबेटन ने अनुभव किया कि कांग्रेस के नेता, विशेषकर नेहरू और पटेल, रियासतों की स्वतंत्रता को पसंद नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने राजाओं–महाराजाओं को समझाने का प्रयास किया कि वे केवल तीन क्षेत्रों, संचार, राजनय और प्रतिरक्षा में, जिनमें उनको पहले भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं था, अपने अधिकार त्यागकर भारत में शामिल हो जाएं। पटेल, जो अब नए राज्य विभाग के प्रमुख थे, इस योजना को मानने के लिए तैयार हो गए, बशर्ते वायसरॉय उन्हें ''सेबों से भरी एक टोकरी'' दे दें।[14] यह एक कठिन कार्य था क्योंकि जून के आरंभ तक भोपाल, त्रावनकोर, कश्मीर और हैदराबाद जैसी कुछ रियासतों ने स्वतंत्र रहने की इच्छा व्यक्त कर दी थी। अब वायसरॉय के पास उनकी बाँह मरोड़ने के सिवा कोई रास्ता नहीं था, क्योंकि उन्हें कांग्रेस को डोमिनियन स्टेट्स और विभाजन स्वीकार करने पर मनाना था। अंततः वायसरॉय और उनके मंत्रियों ने दबाव डालकर विलय को बढ़ावा दिया।

15 अगस्त 1947 तक कश्मीर, हैदराबाद एवं जूनागढ़ को छोड़कर लगभग सभी रियासतों ने भारत संघ में शामिल होने के लिए विलय–पत्र पर हस्ताक्षर करके केवल तीन विषयों– रक्षा, विदेशी मामले और संचार पर अपने अधिकारों का समर्पण कर दिए और शासन के कुछ अवशिष्ट अधिकार अपने पास रख लिए। देसी रियासतों के शासक विलय–पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए इसलिए तैयार हो गए थे क्योंकि उनके समक्ष इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था और आंतरिक राजनैतिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा था। लेकिन वे (वायसरॉय) पूरी टोकरी देने में असफल रहे। कश्मीर और हैदराबाद ने स्वतंत्र रहने का निर्णय किया और जूनागढ़ ने पाकिस्तान में विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिए।

[14] एच.वी. हॉडसन 1969, दि ग्रेट डिवाइड : ब्रिटेन, इंडिया, पाकिस्तान, पृष्ठ 368।

देश का तीव्रगति से एकीकरण सरदार वल्लभभाई पटेल की एक महान् उपलब्धि थी। स्वतंत्रता और विभाजन के बाद जुलाई 1947 में वल्लभभाई पटेल ने वी.पी. मेनन के साथ मिलकर रियासतों की समस्या का ''अंतिम समाधान'' करने का निश्चय किया, जो नए भारत की राजनीति में गतिरोध बने हुए थे। इस परियोजना में रियासतों का बड़ी प्रशासकीय इकाइयों में एकीकृत करना तथा अथवा उनका पहले के प्रदेशों में विलय करना, उनका तीव्र गति से प्रजातंत्रीकरण करना, और पूर्णरूप से संघीय केंद्र के अधीन शामिल करना शामिल था। अनेक राजाओं को करमुक्त विशेषाधिकार, राज्यपाल एवं राजप्रमुख के पद और अन्य लाभों के रूप में पेंशन देकर रियासतों से हटा दिया गया; कुछ को विदेश मिशनों में अधिकतर औपचारिक पद दे दिए गए, किंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि वह सभी इस शांतिपूर्ण क्रांति में खुशी–खुशी शामिल हो गए। जूनागढ़ के नवाब, हैदराबाद के निजाम और जम्मू–कश्मीर के महाराजा ने इसका विरोध किया और इन मामलों में राजसत्ता के अधिकार का दृढतापूर्वक प्रयोग किया गया। जनता के विद्रोह और भारत सरकार द्वारा की गई नाकेबंदी करने के कारण विवश होकर जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान भाग गया।

इसके बाद भारतीय सेना ने राज्य पर नियंत्रण कर लिया। कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने भी भारत या पाकिस्तान में शामिल होने में आनाकानी की, किंतु जब कश्मीर पर पाकिस्तान के पठानों और कबाइली फौजी दस्तों ने हमला कर दिया, तो विवश होकर हरि सिंह को भी अक्टूबर 1947 में भारत में मिलना और विलय–पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा। उधर निजाम की स्वतंत्रता की महत्वाकांक्षा को नष्ट करने के लिए आखिरकार भारतीय टैंक सितंबर 1948 में हैदराबाद पहुँच गए[15] और 13 दिसंबर 1948 को भारतीय सेना ने हैदराबाद पर नियंत्रण स्थापित कर लिया।

भारतीय संघ में रियासतों के विलय और उसके औचित्य पर इतिहासकारों के बीच मतभेद रहा है। कुछ इतिहासकारों ने ब्रिटिश सम्राट पर न्यायोचित संधिजनित दायित्वों के एकतरफा हनन की नैतिकता, शुचिता और वैधता पर सवाल उठाए हैं। इन इतिहासकारों ने राजाओं के प्रति आरंभ में माउंटबेटन के लापरवाह रवैये और बाद में उनसे दबंग व्यवहार करने की आलोचना की है। कुछ इतिहासकारों को अक्खड़ रियासतों को अपनी टोकरी में लाने के लिए पटेल द्वारा अपनाए गए तरीके ''संदिग्ध वैधता'' से संपन्न लगते हैं।[16] लेकिन अनेक इतिहासकार मानते हैं कि रियासतों का अंत ऐतिहासिक दृष्टि से परिहार्य था, क्योंकि निरंकुश शासन पहले ही अतीत के अवशेष हो चुके थे और वे एक नया जीवन पाने की पात्रता नहीं रखते थे। दूसरे शब्दों में ''दो अलग–अलग भारतों के विरोधाभास का मरना स्पष्ट तौर पर अनिवार्य था।''[17] इसलिए नए स्वतंत्र भारत में असहाय राजाओं के लिए कोई जगह नहीं रह गई थी।

[15] इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 257–68।
[16] ज्युडिथ ब्राउन, 1994, मॉडर्न इंडिया, दि ओरिजिन ऑफ ऐन एशियन डेमोक्रेसी, पृष्ठ 346।
[17] मेनर 1978, दि डेमाइज ऑफ दि प्रिंसली ऑर्डर : ए रिएसेस्मेंट, इन पीपुल, प्रिंसेज एंड पैरामाउंट पॉवरः सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन दि इंडियन प्रिंसली स्टेट्स, संपा. आर. जेफ्री, 306–28, पृष्ठ 323।